

प्रथम संस्करण : १० हजार
(१२ अक्टूबर २००५, विजयादशमी)

मूल्य : स्वयं पढ़ें और कम से कम पाँच मित्रों को पढायें।

रक्षाबंधन और दीपावली

लेखक

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच. डी.

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) ३०२०१५

फोन : (०१४१) २७०७४५८, २७०५५८१, फैक्स : २७०४१२७

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

टाईपसैटिंग :

त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स

ए-४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :

प्रिन्ट 'औ' लैण्ड

बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

‘रक्षाबंधन एवं दीपावली’ डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की नवीनतम कृति है, जिसका प्रकाशन पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के माध्यम से करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

इस २१वीं शताब्दी के मूर्धन्य विद्वानों में तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल अग्रगण्य हैं। आपने जैनदर्शन को आत्मसात कर अपने तात्त्विक प्रवचनों के माध्यम से अनेक साधर्मि जनों को सत्यमार्ग का दिग्दर्शन कराया है। आपकी वक्तृत्व शैली तो मंत्रमुग्ध करनेवाली है ही, लेखन के क्षेत्र में भी आपका कोई सानी नहीं है। अबतक विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित ६० पुस्तकें इसका जीता-जागता प्रमाण है, जो अबतक ४० लाख से अधिक की संख्या में प्रकाशित होकर जन-जन के हाथों में पहुँच चुकी हैं।

मैं डॉ. साहब के सम्पर्क में पहली बार १९७० ई. सन् में तब आया, जब ब्र. धन्यकुमारजी बेलोकर एवं उनकी बहिन विदुषी विजयाबेन पांगल के निमंत्रण पर डॉ. साहब ७ दिन के लिए शिक्षण-शिविर के निमित्त कोल्हापुर पधारे।

उस समय मैं कुम्भोज-बाहुबली में रहता था। शिविर के समापन के पश्चात् दर्शनार्थ भारिल्लजी कुम्भोज-बाहुबली पधारे। वहाँ विराजित अध्यात्मप्रेमी स्व. १०८ मुनि श्री समन्तभद्रजी से विदुषी गजाबेन कोल्हापुर में डॉ. भारिल्लजी के सुने प्रवचनों पर चर्चा कर रही थीं, जिसमें उन्होंने कहा कि अपनी अंतरंग लड़ाकू प्रवृत्ति के कारण हमें संघर्ष में उलझे हुए मुनिराज ही अच्छे लगते हैं।

बाद मैं मैंने रक्षाबन्धन के इस प्रसंग में इसी विषय को डॉ. भारिल्लजी के व्याख्यान में पुनः सुना, जिससे मुझे मुनिराज के स्वरूप का यथार्थ बोध हुआ।

बाद में मार्च १९८४ में आपकी लेखनी से प्रसूत कथा संग्रह ‘आप कुछ भी कहो’ का प्रकाशन किया गया, जिसमें एक कहानी ‘अक्षम्य अपराध’ भी थी, जिसकी विषय-वस्तु रक्षाबंधन पर्व से संबंधित थी और उसमें आचार्य अकंपन, मुनिराज श्रुतसागर और मुनिराज विष्णुकुमार का

बेबाक चित्रण था, जिससे मुनिराज के स्वरूप का सम्यक् बोध हुआ। तभी से मेरे मन में इस विषयवस्तु को पुस्तकाकार प्रकाशित करने का भाव था, जो अब साकार हो सका है।

रक्षाबन्धन एवं दीपावली पर्व पर डॉ. साहब अबतक लगभग ४० बार व्याख्यान कर चुके हैं। अनेक श्रोताओं की शंकाओं का समाधान भी आपके द्वारा समय-समय पर किया गया है। इस कृति में आपने सभी शंकाओं का यथोचित समाधान करने के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तरों का समावेश कर पुस्तक को उपयोगी बनाने का प्रयास किया है।

आपने क्रमबद्धपर्याय, परमभावप्रकाशक नयचक्र, समयसार अनुशीलन, प्रवचनसार अनुशीलन जैसी गूढ़ दार्शनिक विषयों को स्पष्ट करने वाली कृतियाँ तो लिखीं ही हैं, जिनमें आगम और अध्यात्म के गहन रहस्यों को सरल व सुबोध भाषा में लिखकर जन-जन तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया गया है।

धर्म के दशलक्षण, बारहभावना : एक अनुशीलन, तीर्थकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व तथा सत्य की खोज व आप कुछ भी कहो (कहानी संग्रह) भी आपकी लोकप्रिय कृतियाँ हैं।

आपकी अब तक प्रकाशित पुस्तकों की सूची इस कृति में अन्त में प्रकाशित है, जो दृष्टव्य हैं।

कृति के आवरण एवं प्रकाशन व्यवस्था का सम्पूर्ण दायित्व प्रकाशन विभाग के मैनेजर श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाला है।

कीमत कम करने में अनेक महानुभावों का यथोचित सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनकी सूची पृथक् से प्रकाशित है। सभी सहयोगियों का हम हृदय से आभार मानते हैं।

इस कृति के माध्यम से सभी आत्मारथीजन रक्षाबन्धन एवं दीपावली का वास्तविक स्वरूप समझें - इसी भावना के साथ।

दिनांक : ८ अक्टूबर, २००५

- ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

रक्षाबंधन और दीपावली

‘रक्षाबंधन, दशहरा, दीपावली और होली’ – भारतीय संस्कृति में ये चार पर्व महापर्व माने जाते हैं। यदि हम कहें तो कह सकते हैं कि रक्षाबंधन ब्राह्मणों का, दशहरा क्षत्रियों का, दीपावली वैश्यों का-व्यापारियों का और होली शूद्रों का पर्व है।

चौमासे में रक्षाबंधन सबसे पहले आता है। चौमासे का समय एक ऐसा समय है कि जब सम्पूर्ण देश में धार्मिक वातावरण बन जाता है; क्योंकि इस समय किसी को कोई काम नहीं रहता।

किसान लोग बोनी करके, बीजों को बोकर उनके उगने और बढ़ने का इन्तजार करते हैं; उनकी रखवाली के अलावा उन्हें कोई काम नहीं रहता। यातायात अवरुद्ध हो जाने से व्यापारियों का व्यापार के लिए देश-विदेश आना-जाना बंद हो जाता है।

पुराने जमाने में न तो रेल थी और न पर्याप्त पक्की सड़कें थीं, न बसें थीं और न ट्रक ही थे। नदियों में भरपूर पानी रहने से और पुलों की कमी से भी यातायात अवरुद्ध रहता था। इसकारण युद्ध होना भी संभव नहीं था; अतः क्षत्रिय (सैनिक) लोगों को भी कोई काम नहीं रहता था।

सभी लोग अपने-अपने नगरों में ही रहते थे; इसकारण धर्मगुरुओं और विद्वानों को प्रवचन आदि का काम बढ़ जाता था, सम्पूर्ण वातावरण धर्ममय हो जाता था।

साधु-संत भी चौमासे में चार माह एक स्थान पर रहते हैं। वैसे तो वे पानी की तरह सदा बहते ही रहते हैं, एक जगह अधिक नहीं रुकते।

शास्त्रों में तो यह कहा कि वे चौमासे को छोड़कर बड़े नगरों में ७ दिन, छोटे नगरों में ५ दिन और गाँवों में ३ दिन से अधिक नहीं रह

सकते; क्योंकि एक जगह अधिक काल तक रहने से वहाँ के लोगों से, स्थान से राग हो जाता है और शत्रु भी पैदा हो जाते हैं। मुनिराज हरयाली पर पैर नहीं रखते; इसकारण रास्ते अवरुद्ध हो जाने से चार महिने एक ही जगह रुकने की आज्ञा है।

चाहे साधु-संत हों, चाहे ब्रह्मचारी हों, चाहे विद्वान हों; जिनकी धर्म में गति है, जो उपदेशक हैं; मेरी दृष्टि में ब्रह्म (आत्मा) को जाननेवाले वे सभी ब्राह्मण हैं; इसलिए मैं कहता हूँ कि ये रक्षाबंधन ब्राह्मणों का पर्व है।

बरसात समाप्त हो जाने पर रास्ते खुल जाते हैं। लड़ाईयों का समय आ जाता है। इसलिए क्षत्रिय लोग अपने जंग खाये हुए हथियारों की सफाई करते हैं और उन्हें चलाकर देखते हैं कि ये काम के भी रहे हैं या नहीं।

इसतरह दशहरा पर्व क्षत्रियों का पर्व है। आप देखते हैं कि दशहरे पर सभी जगह जो जुलूस निकलते हैं, उनमें हथियारों को चलाने की कला का प्रदर्शन होता है। इसतरह प्रकृति से ही यह दशहरा क्षत्रियों का पर्व है।

दीपावली व्यापारियों का पर्व है; क्योंकि आवागमन चालू हो गया, इसलिए अब देश-परदेश जा सकते हैं। सारंग खुल जाने से व्यापारियों का व्यापार भी आरंभ हो जाता है। अतः वे भी तराजू आदि की सफाई करके उसकी पूजा करते हैं। इसलिए यह दीपावली व्यापारियों का पर्व है।

सर्दियों में युद्ध होते हैं, व्यापारी देश-परदेश जाकर बहुत कमाई करते हैं, किसान लोग अपनी खेती आदि में जुटे रहते हैं, काम में लगे रहते हैं; लेकिन अंत में जाकर जब होली आती है, तब खेतों में अनाज आ जाता है, किसान भी खुश, व्यापारी लोग भी पैसा कमाकर अपने घर लौट के आते हैं और क्षत्रिय भी दिग्विजय प्राप्त करके लौटकर अपने घरों पर आते हैं और वसंतोत्सव मनाते हैं अर्थात् राग-रंग में डूब जाते हैं।

शूद्र माने मात्र वे लोग नहीं, जो सफाई करते हैं। हर एक के मन में समाहित गन्दगी जब उभर कर ऊपर आ जाए तो सभी शूद्र हो जाते हैं; यानी उस वक्त ब्राह्मण भी शूद्र हो जाते हैं, क्षत्रिय भी शूद्र हो जाते हैं, वैश्य भी शूद्र हो जाते हैं और गाली-गलौच करना, एक-दूसरों के ऊपर कीचड़ उछालना आदि प्रवृत्तियाँ होने लगती है।

इस समय लोग मात्र काया से ही नहीं, अपनी जबान से भी कीचड़ उछालते हैं। गन्दे मजाक करना कीचड़ उछालना ही तो है। जब चारों वर्ण शूद्रता पर उतर आएँ, हल्केपन पर उतर आए तो समझ लेना कि होली आ गई है। कहते हैं कि इस समय बुद्धों को भी रंग चढ़ने लगता है। ऐसा कोई आदमी नहीं होता है, जो राग-रंग में मस्त नहीं होता है और उसकी वासनाएँ उद्दीप्त नहीं होती हैं। इसतरह होली शूद्रों का पर्व है।

ये चार पर्व भारतीय संस्कृति में ऋतु-विज्ञान के आधार पर प्रचलित पर्व हैं। बाद में लोगों ने इनसे अपनी-अपनी कुछ घटनाएँ जोड़ ली हैं। कहने का अर्थ यह है कि ये सब चीजें बाद की जुड़ी हुई लगती हैं; क्योंकि ये चारों पर्व प्राकृतिक हैं और उक्त घटनाओं से पहले भी रहे होंगे।

इन चारों पर्वों में जैनियों ने दो पर्वों को अपनाया - एक रक्षाबंधन और दूसरा दीपावली। जैनियों ने दशहरा और होली को नहीं अपनाया; क्योंकि ये दोनों पर्व राग-द्वेष के सूचक हैं। जिसमें मन-वचन-काय की गन्दगी उछलकर बाहर आ जाए - ऐसी होली वीतरागता को धर्म माननेवाले जैनियों को कैसे स्वीकृत हो सकती थी ?

इसीप्रकार अहिंसाप्रेमी जैनसमाज को शस्त्रों की पूजा का पर्व कैसे सुहा सकता था ? दीपावली एक तो वैश्यों का पर्व था, दूसरे उसी दिन महावीर का निर्वाण हो गया। वह धार्मिक पर्व होने से हमारे प्रकृति के अनुकूल था; हिंसा, राग और द्वेष से संबंधित नहीं था। इसलिए हमने रक्षाबंधन और दीपावली - इन दो पर्वों को अपना लिया। ●

रक्षाबंधन

रक्षाबंधन के सन्दर्भ में सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसके संबंध में जो कहानियाँ जैनों और हिन्दुओं में प्रचलित हैं, उनमें अद्भुत समानता देखने को मिलती है। हिन्दुओं में भी राजा बलि हैं, विष्णु भगवान हैं और विष्णु भगवान ने बलि का वध करने के लिए बावनिया का अवतार लिया था और जैनियों में भी मुनिराज विष्णुकुमार ने बावन अंगुल के बनकर बलि को काबू में किया था।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि हमने उनकी नकल की है या उन्होंने हमारी नकल की है; क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि दोनों कहानियाँ मौलिक हों या दोनों ही काल्पनिक। पर यह परमसत्य है कि दोनों में अद्भुत समानता है। जो भी थोड़ा-बहुत अन्तर दिखाई देता है, वह अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओं के कारण ही हुआ है।

हमारा उद्देश्य दोनों की सत्यता-असत्यता पर विचार करना नहीं है। हमारे इस आलेख का मूल विषय तो जैनशास्त्रों में प्राप्त कहानी के आधार पर प्रचलित मान्यताओं की समीक्षा करना है।

कहानी सुनाना भी मेरा उद्देश्य नहीं है। मैं ऐसा मानकर चलता हूँ कि मेरे सभी श्रोता और पाठक मूल कहानी से तो परिचित ही हैं; तथापि उस पर विचार करने के पूर्व उसका खाका खींचना तो आवश्यक है ही।

सात सौ मुनिराजों का एक संघ था। उसके आचार्य थे अकम्पन। उनमें एक श्रुतसागर नाम के मुनिराज भी थे। जब संघ उज्जयनी नगरी में पहुँचा; तब वहाँ का श्रीवर्मा नामक राजा बलि, प्रह्लाद, नमुचि और बृहस्पति नामक मंत्रियों के साथ उनके दर्शनार्थ आया।

अकम्पनाचार्य ने सभी को आदेश दे दिया था कि उनके आने पर सभी को मौन रखना है, अन्यथा वादविवाद हो सकता है, झगड़ा हो

सकता है। वे आये और दर्शन कर वापिस चले गये, आचार्यश्री के आदेश के अनुसार पूरा संघ ध्यान में मग्न रहा।

जब वे लौटकर जा रहे थे, तब रास्ते में मुनिराजों से द्वेष रखनेवाला एक मंत्री कहने लगा - 'मौनम् मूर्खस्य भूषणम् - मूर्खों का आभूषण मौन है।' ये लोग अपने अज्ञान को छुपाने के लिए ध्यान का ढोंग कर रहे हैं। अरे हम इन्हें नमस्कार कर रहे हैं और ये आशीर्वाद तक नहीं देते।

मुनिराज श्रुतसागर सामने से आ रहे थे; उन्हें यह बात बर्दाश्त नहीं हुई। श्रुतसागर ने उनसे वादविवाद किया और उनके बाप-दादों की नहीं; उनके ही पूर्वभव की कहानी सुना दी। आखिरकार वे बहुत जल-भुन गये और रात को आकर उन्होंने मुनिराज श्रुतसागर पर उपसर्ग किया तो देवताओं ने उन्हें कील दिया।

उन मंत्रियों के इस व्यवहार के कारण उन्हें देशनिकाला दे दिया गया और वे हस्तिनापुर नगर में पद्मराय नामक राजा के यहाँ काम करने लगे।

उन मुनिराजों का संघ भी कुछ दिनों बाद वहाँ पहुँचा। जब इस बात का पता उन मंत्रियों को चला तो उन्होंने बदला लेने का विचार किया।

किसी काम के कारण राजा ने उन्हें कुछ वरदान माँग लेने का वचन दिया था, जिसका अभी तक उपयोग नहीं किया गया था। इस अवसर पर उन्होंने ७ दिन का राज्य माँग लिया। इसप्रकार बलि नामक मंत्री ७ दिन के लिए राजा बन गया।

वह जानता था कि जैन साधु घास पर नहीं चलते; इसलिए उसने साधुसंघ को कैद करने के लिए जहाँ संघ ठहरा था, उसके चारों ओर गेहूँ बो दिये। उसके बाद धुआँ कराके उनपर उपसर्ग किया।

मुनिराज विष्णुकुमार ने उनका उपसर्ग दूर करने के लिए विक्रियाक्रुद्धि के बल से बावनिया का रूप धरकर बलि राजा से समस्त पृथ्वी ले ली।

इसप्रकार उनका उपसर्ग दूर हुआ। संक्षेप में रक्षाबंधन की कहानी इतनी ही है।

कहानी तो सत्य ही है; पर उसके आधार पर हमने जो निष्कर्ष निकाले हैं; वे कितने सही हैं - यहाँ विचार का बिन्दु तो मूलतः यही है।

इस कहानी में तीन मुनिराज हैं, तीन तरह के मुनिराज हैं - एक तो हैं सबके सिरमौर अकंपनाचार्य, दूसरे हैं महान विद्वान श्रुतसागर और तीसरे हैं विक्रिया ऋद्धिधारी विष्णुकुमार। ये तीनों के नाम भी एकदम सार्थक हैं; क्योंकि जो बड़े से बड़े उपसर्ग आने पर भी विचलित नहीं हुए, कम्पायमान नहीं हुए; वे हैं अकम्पन और जिन्होंने वादविवाद में मंत्रियों को हरा दिया और उनकी पूर्व पीढ़ियों की ही नहीं, बल्कि उनके पूर्व भवों की कहानी उन्हें सुना दी - ऐसे श्रुत के सागर श्रुतसागर। विष्णु माने होता है रक्षक। रक्षा करनेवाले मुनिराज का नाम विष्णुकुमार भी सार्थक नाम ही है।

मैंने अपने उपन्यास सत्य की खोज में भी ऐसे ही नाम रखे हैं - विवेक का धनी विवेक और रूपवान रूपमती। विवेक के पास रूप था कि नहीं? इसकी चर्चा तो उसमें नहीं की, लेकिन रूपमती के पास अकल नहीं थी, इसकी चर्चा तो उसमें है ही। रूपमती के पास विवेक नहीं था। भले ही वह विवेक की पत्नी थी, लेकिन विवेकरहित थी।

शास्त्रों में ऐसी हजारों कहानियाँ हैं और वे उतनी ही प्रामाणिक हैं, जितनी कि राम की कहानी, भगवान महावीर की कहानी है; क्योंकि वे सोद्देश्य हैं और वे प्रथमानुयोग में शामिल हैं। मेरे कहने का मतलब यह है कि वे प्रथमानुयोग के बाहर नहीं हैं।

तीन तरह के मुनिराज हैं - एक वे जिनके प्रतिनिधि विष्णुकुमार थे, एक वे जिनके प्रतिनिधि श्रुतसागर थे और एक वे जिनके प्रतिनिधि थे आचार्य अकंपन।

कितनी भी अनुकूलता-प्रतिकूलता आए, लेकिन जो अपने पद-

मर्यादाओं से कँपे नहीं, उनका उल्लंघन नहीं करें; कोई कितना ही उत्तेजित करे, पर उत्तेजित न हो, उनके प्रतिनिधि आचार्य अकंपन और उनके वे सात सौ शिष्य थे कि जिन्होंने इतनी अधिक प्रतिकूलता में भी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, आत्मसाधना में रत रहे।

ईंट का जवाब पत्थर से देना मुनिराजों का काम नहीं।

जगत की दृष्टि में तो सबसे जोरदार मुनिराज तो विष्णुकुमार ही थे न? बलि की छाती पर पैर रखकर आकाश के तारे दिखा दिये और मुनिराजों की सुरक्षा कर दी। पहले रक्षाबंधन के दिन विष्णुकुमार की ही पूजन की जाती थी। अब तो अकम्पनाचार्य की पूजन भी बन गई है और हमारे प्रतिपादन से प्रभावित कहीं-कहीं कुछ लोग उनको भी याद करने लग गये हैं।

अकंपनाचार्य के बारे में हम कहते हैं कि बेचारे अकम्पन! वहाँ (उज्जैनी में) भी पिटते-पिटते बचे और यहाँ (हस्तिनापुर में) तो पिट ही गये; कुछ नहीं कर पाये, जवाब तक नहीं दे पाये।

दूसरे नम्बर पर हमें दिखाई देते हैं मुनिराज श्रुतसागर। हम कहते हैं कि देखो! कैसा मुँहतोड़ जवाब दिया कि नानी याद आ गई।

तात्पर्य यह है कि हमारे अन्दर जो लड़ाकू वृत्ति है, उसके कारण हमने मुनिराजों में भी संघर्ष में उलझे मुनिराजों को ही पसन्द किया; पर अपने ज्ञान-ध्यान में लीन रहनेवाले, उपसर्ग से कभी न डिगनेवाले अकम्पनाचार्य और उनके सात सौ शिष्यों को पसन्द नहीं किया।

मैं इन तीनों प्रकार के मुनिराजों के मुनिपने में शंका नहीं कर रहा हूँ। वे सभी मुनिराज हैं, हमारे लिए तीनों परमपूज्य हैं। पर बात यह है कि इस रक्षाबंधन की कहानी के आधार पर सबसे महान कौन हैं, सर्वश्रेष्ठ कौन? बस बात मात्र इतनी ही है।

अकम्पन आचार्य हैं और उन्होंने मर्यादाओं को भी पाला; इसलिए

भी वे महान हैं। श्रुतसागर और विष्णुकुमार तो मुनि ही थे, आचार्य नहीं थे। फिर भी हमने स्वयं अपनी लड़ाकू प्रकृति के कारण आचार्य अकंपन को महत्त्व न देकर उनके ही शिष्य मुनिराज श्रुतसागर और विष्णुकुमार को ही महत्त्व दिया।

मैं मुनिराजों की नहीं, अपने चित्त की खराबी बता रहा हूँ कि उन तीन तरह के मुनिराजों में हमारे चित्त ने किसको सबसे ज्यादा महत्त्व दिया; हमारी दृष्टि में महिमा किस बात की अधिक है।

विष्णुकुमार ने जो कुछ किया, उसके फल में उन्हें मुनिपद छोड़ना पड़ा। क्या इसका सीधा-सच्चा अर्थ यह नहीं है कि मुनिपद में ये काम करने योग्य नहीं हैं?

आज के जो मुनिराज उन्हें आदर्श मानकर धर्मरक्षा के नाम पर उत्तेजना फैलाते हैं, तोड़-फोड़ करना चाहते हैं; उन्हें विष्णुकुमार के उस निर्णय पर ध्यान देना चाहिए कि उनको यदि ऐसा करने का विकल्प आया तो दिगंबर भेष बदनाम न हो और इस पद की मर्यादा कायम रहे; इसलिए उन्होंने पहले मुनिपद छोड़ा और बाद में यह काम किया।

वास्तुतः बात यह है कि जब उन्होंने मुनिपद छोड़कर बावनिया का भेष बना लिया तो वे उस समय मुनिराज ही नहीं रहे; अतः यह कहना कि मुनिराज विष्णुकुमार ने यह काम किया मात्र औपचारिक ही है; वास्तविक नहीं।

बावनिया का भेष गृहस्थ का था या मुनिराज का था? उस भेष में उन्होंने छल-कपट किया, झूठ बोला। ये तो हमारे यहाँ प्रसिद्ध खोटे काम हैं, जो गृहस्थ के लिए भी करनेयोग्य नहीं हैं, जो हम और आप करें तो भी कोई अच्छा नहीं माने। पर हम उन्हीं कामों पर लड्डू हो रहे हैं। हम कहाँ खड़े हैं? सवाल यह है।

उन्होंने यह काम अपना पद छोड़कर किया, इसका मतलब यह है कि वे मानते थे कि यह काम मुनि पद में करने योग्य नहीं है। बस बात

इतनी ही है कि उन्हें विकल्प आ गया और उसके लिए उन्होंने पद छोड़ा; जिसके लिए उन्हें प्रायश्चित्त लेना पड़ा, दुबारा दीक्षा लेनी पड़ी।

अरे ! इससे बड़ा प्रायश्चित्त दुनिया में क्या हो सकता है कि दीक्षाच्छेद हो गई।

क्या आप जानते हैं कि दीक्षाच्छेद का क्या मतलब है ?

मान लो वे बीस वर्ष पुराने दीक्षित थे। उनके बाद के अबतक जितने भी दीक्षित मुनि थे, वे उन्हें नमस्कार करते थे और ये उन्हें धर्मवृद्धिरस्तु का आशीर्वाद देते थे। अब आजतक जितने भी मुनि दीक्षित हुए हैं, भले ही उनसे ही क्यों नहीं हुए हों, फिर भी उन्हें उनको नमस्कार करना पड़ेगा और वे उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देंगे। सम्पूर्ण वरिष्ठता समाप्त।

किसी मुनिराज के लिए इससे बड़ा और कौनसा दण्ड हो सकता है ?

ध्यान रहे, मैं उनकी गलती नहीं बता रहा हूँ; मैं हमारे मन की गलती बता रहा हूँ कि हमने उनको पसन्द किया और उनके उस काम को पसन्द किया कि जिस काम को वे स्वयं पसन्द नहीं करते थे और उस काम को मुनिधर्म के पद के योग्य नहीं मानते थे। मुनिपद छोड़कर उन्होंने यह काम किया और इसके कारण हम उन्हें महान मानते हैं।

उक्त सन्दर्भ में टोडरमलजी का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है -

“विष्णुकुमार ने मुनियों का उपसर्ग दूर किया सो धर्मानुराग से किया; परन्तु मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नहीं था; क्योंकि ऐसा कार्य तो गृहस्थधर्म में सम्भव है और गृहस्थधर्म से मुनिधर्म ऊँचा है; सो ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार किया, वह अयोग्य है; परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानता से विष्णुकुमारजी की प्रशंसा की है।

इस छल से औरों को ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है।^१”

उनकी जिन्दगी का वह सबसे महान कार्य था या सबसे हल्का

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ : २७४

कार्य था ? (छात्रों की ओर लक्ष्य करके) पाँच साल तुम यहाँ रहे और बहुत अच्छा अध्ययन किया, पढ़े-लिखे; पर बीच में एक उदण्डता की, जिसके कारण तुम्हें निकाल दिया गया। फिर तुम्हारे पिताश्री आए, उन्होंने हाथ-पैर जोड़े, तुमने भी हाथ-पैर जोड़े; तब मुश्किल से तुम्हें दोबारा प्रवेश मिला।

पाँच साल की जिन्दगी में किया गया तुम्हारा यही काम सबसे बढ़िया रहा होगा ? क्या इसी के कारण तुम याद किये जाओगे ? क्या इसी से तुम्हें याद किया जाना चाहिए ?

आप यही कहेंगे न कि मैंने गोल्ड मैडल लिया, उसकी बात तो नहीं करते; पर निकालने की बात करते हो, बार-बार सभी को बताते हो।

इसीप्रकार ये काम अच्छा तो नहीं था कि जिसके कारण उन्हें साधुपद छोड़ना पड़ा।

हम श्रुतसागर मुनिराज का भी बहुत बचाव करते हैं। कहते हैं कि उन्हें आचार्यश्री के आदेश का पता नहीं था। यदि पता होता तो वे गारन्टी से वादविवाद में नहीं उलझते।

मैंने 'आप कुछ भी कहो' कहानी संग्रह में एक कहानी लिखी है 'अक्षम्य अपराध।' मुनिराज विष्णुकुमारजी का भी यह कार्य अक्षम्य अपराध ही था। उनका अपराध क्षमा कहाँ हुआ ? यदि क्षम्य होता तो क्षमा हो जाता न ?

क्षमा हुआ तो तब माना जाता कि जब मुनिपद नहीं छूटता।

जब दण्ड मिल गया, प्रायश्चित्त लेना पड़ा तो क्षमा कहाँ हुआ ?

मैंने एक बहुत बढ़िया वाक्य उसमें लिखा है कि श्रुत के सागर को इतना विवेक तो होना ही चाहिये था कि राह चलते लोगों से व्यर्थ के विवाद में उलझना ठीक नहीं है।

इतना तो हम-तुम सभी समझते है कि किसी सज्जन पुरुष का राह चलते किसी राहगीर से उलझना कोई अच्छी बात नहीं है।

आचार्यश्री का आदेश सुन पाये थे या नहीं सुन पाये थे - वह बात जाने दो। पर श्रुत के सागर को इतना विवेक तो होना ही चाहिए था। यह ज्ञान काम का है या दूसरों के पूर्वभव जानना काम का है ? जातिस्मरण काम का है या यह जानना काम का है ?

मैं आपसे ही पूछता हूँ कि वर्तमान के काल में हमें कैसा व्यवहार करना चाहिए - इसका ज्ञान होना जरूरी है या किसी के पूर्वभव का ज्ञान होना जरूरी है ?

श्रुत के सागर को इतना विवेक होना चाहिए था - यह एक बात है और दूसरी बात यह कि आज्ञा देते समय, जब वहाँ संघ के सभी मुनि उपस्थित थे, तो ये उपस्थित क्यों नहीं थे ? अनुपस्थिति भी तो अच्छा काम नहीं है।

हमें तो पता ही नहीं था, क्योंकि कल हम आए ही नहीं थे; इसलिए हमने सुना ही नहीं - ऐसा कहनेवाले छात्र का असत् व्यवहार क्या उपेक्षा योग्य है।

बाकी सब आ गये थे तो वे लेट क्यों आए ? किसी के दिमाग में यह क्यों नहीं आता ? हम उनसे इतना अभिभूत हो जाते हैं कि यह सब सोचने की हममें शक्ति ही नहीं रहती। मैंने उस अक्षम्य अपराध कहानी में बहुत सभ्य भाषा में यह सब लिखा है।

मैंने उसमें यह लिखा ही नहीं कि अकम्पनाचार्य ने उन्हें आदेश दिया कि जाओ तुम उसी स्थान पर खड़े रहो। वे तो सारी बात सुनकर एकदम गंभीर हो गये।

शायद श्रुतसागर सोचते होंगे कि आज तो मुझे शाबासी मिलेगी कि अच्छे दाँत खट्टे कर दिये, लेकिन आचार्य कुछ नहीं बोले। यह मौन की भाषा है।

उनकी गंभीरता देखकर श्रुतसागर के होश उड़ गये और उन्हें यह

समझते देर न लगी कि कोई बहुत बड़ा अपराध हो गया है। यह साधारण अपराध नहीं है; क्योंकि इतना चिंतित तो मैंने आचार्यश्री को कभी नहीं देखा। तब वे खुद ही बोले कि इस अक्षम्य अपराध के लिए आचार्यश्री मुझे जो भी दण्ड दें; मैं उसे स्वीकार करने के लिए नतमस्तक हूँ।

तो आचार्यश्री ने जवाब दिया - “श्रुतसागर! सवाल दण्ड का या प्रायश्चित्त का नहीं है; सवाल संघ की सुरक्षा का है।

मुझे इस बात की चिन्ता नहीं कि मैं तुम्हें दण्ड दूँगा तो तुम मानोगे कि नहीं मानोगे या तुम उद्वण्डता पर उतर आओगे और एक नया संघ बना लोगे, तोड़-फोड़ करके स्वयं आचार्य बन जाओगे।

यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मैं जो भी दण्ड दूँगा, वह तुम स्वीकार करोगे। मेरी चिन्ता का विषय यह नहीं है। मेरी चिन्ता का विषय संघ की सुरक्षा है; क्योंकि कि अब संघ पर कोई महासंकट आनेवाला है।

वे लोग आर्येंगे और कोई न कोई उपसर्ग संघ पर अवश्य करेंगे।”

श्रुतसागर बुद्धिमान तो थे ही, आखिर वे श्रुतसागर थे। मैं तो ऐसा मानता हूँ कि अकम्पनाचार्य ने उनकी प्रतिभा को देखकर उन्हें श्रुतसागर नाम की उपाधि दी होगी, नाम कुछ और रहा होगा उनका।

वे कहते हैं कि मैं वहीं जाऊँगा और मैं वहीं खड़ा रहूँगा, वहीं आत्मध्यान करूँगा; क्योंकि वे मंत्री उसपर्ग करने के लिए उसी रास्ते से आर्येंगे और रास्ते में उन्हें मैं सहज ही मिल जाऊँगा। यदि उन्हें उनका असली प्रतिद्वन्दी मिल गया तो जो कुछ होगा वहीं होगा, संघ सुरक्षित रहेगा।

यह उनका स्वयं का प्रस्ताव था। आचार्यदेव ने उन्हें यह आज्ञा नहीं दी थी कि तुम वहाँ जाकर खड़े रहो।

मेरे चित्त को यह स्वीकार नहीं हुआ कि अकम्पनाचार्य जैसे दयावान आचार्य यह जानते हुए कि वे जान भी ले सकते हैं, श्रुतसागर को इतना कठोर दण्ड दें कि जाओ बेटा, तुम अकेले ही मरो। तुम्हारे पीछे

हम सब नहीं मरेंगे। तुम वहीं खड़े रहो। तुमने गलती की, तुम ही मरो, हम सब नहीं मरेंगे।

आचार्यश्री सोचते हैं कि श्रुतसागर को तो मैंने घड़े जैसा घडा है। ऐसे श्रुतसागर को मैं मरने के लिए वहाँ कैसे छोड़ दूँ? श्रुतसागर ऐसे ही तैयार नहीं होते। सातसौ शिष्यों पर मेहनत की तो एक श्रुतसागर तैयार हुआ है।

अरे भाई! प्रतिभाशाली विद्यार्थी हो तो भी उसे विद्वान बनाने में खून-पसीना एक करना पड़ता है; उसपर वर्षों मेहनत करनी पड़ती है। तब जाकर वह उच्चकोटि का विद्वान बनता है।

आचार्यश्री ने कहा कि “मैं ऐसी आज्ञा नहीं दे सकता, मैं अनुमति भी नहीं दे सकता।”

श्रुतसागर बोले - “आचार्यश्री! न तो आज्ञा का सवाल है और न अनुमति का। इसके अलावा कोई रास्ता ही नहीं है। एक ही रास्ता है।” - ऐसा कहकर श्रुतसागर वहाँ से चल दिये।

आचार्यश्री ने हाँ या ना की ही नहीं, लेकिन श्रुतसागर की समझ में आ गया कि इसके अलावा कोई रास्ता नहीं है। आचार्यश्री तो कहेंगे ही नहीं - यह सोचकर वे चल दिये।

मेरा कहना यह है कि अपराध का बोध उन्हें स्वयं ही हुआ।

पाठकों की जिज्ञासा शान्त करने के लिये ‘अक्षम्य अपराध’ नामक कहानी इस आलेख के तत्काल बाद ही दी जा रही है।

मैं कहना यह चाहता हूँ कि विष्णुकुमार भी स्वयं अपनी गलती मानते थे, तभी तो उन्होंने दीक्षाच्छेद किया था; श्रुतसागर भी स्वयं अपनी गलती मानते थे, तभी तो प्रायश्चित्त लिया।

जिन कार्यों को वे स्वयं अपनी गलतियाँ मानते थे; उन कार्यों को ही हमने उनके सबसे बड़े गुणों के रूप में स्वीकार कर लिया। जो

उनकी दृष्टि में अपराध था, हमने उसको सबसे महान गुण मान लिया।

यह बात मेरे दिमाग में अठारह वर्ष की उम्र से ही घूमती है। मैंने २०-२१ वर्ष की उम्र में एक 'पश्चात्ताप' नामक खण्डकाव्य लिखा था। उसकी भूमिका में दो लाईनें लिखी थीं -

“जिस बड़ी गलती के लिए हमारे महापुरुष जीवनभर पश्चात्ताप करते रहे; आज हमने उनकी उस बड़ी गलती को ही उनका सबसे बड़ा गुण मान लिया है।”

सीताजी की अग्निपरीक्षा हुई और रामचन्द्रजी उन्हें मनाने लगे कि सीते, तुम आओ, हम साथ में ही घर में रहेंगे; क्योंकि यह सिद्ध हो गया है कि तुम निर्दोष हो।

इसके उत्तर में सीता ने कह दिया कि मैंने तो दुनिया देख ली है। अब मुझे इस दुनियाँ में रहने में कोई रस नहीं है। अब तो मैं दीक्षा लूँगी।

राम पछताते रह गये, हाथ मलते रह गये। ये राम का पश्चात्ताप है। राम इस बात पर पश्चात्ताप कर रहे हैं कि इसमें सीता की क्या गलती है? सीता नारी थी, मेरी ड्यूटी उसकी रक्षा करना था। वह अपने पति के साथ वन में गई थी। देवर भी साथ में थे और हम दोनों उसकी रक्षा नहीं कर पाए। इसमें उसकी क्या गलती थी?

रावण हर ले गया, उसमें सीता की क्या गलती थी? सीता रावण के साथ भागकर थोड़े ही गयी थी। वह वहाँ जितने दिन भी रही, उतने दिनों तक हम उसे छुड़ाकर नहीं ला पाये - यह किसकी गलती है - सीता की या मेरी?

जब राम उन्हें अपवित्र ही मान चुके थे, तो दुबारा जंगल में भेजने के लिए लाये ही क्यों? जरा सी आलोचना के आधार पर पत्नी को छोड़ दिया। हमारी इज्जत में कोई धब्बा न लग जाए, बस इसलिए छोड़ दिया।

यह जो अग्निपरीक्षा आज हो रही है, वह उस दिन भी हो सकती

थी। उस दिन क्यों नहीं हुई?

इन सब गलतियों के लिए राम शेष सारे जीवनभर पछताते रहे। वे अपनी गलती पर पश्चात्ताप कर रहे हैं और उन्हीं के कारण हम ये मानते हैं कि वे कितने महान थे, पत्नी तक को त्याग दिया, इतने न्यायवान थे।

उक्त खण्ड काव्य में अंत में एक बहुत मार्मिक बात लिखी है -

प्रजा की सुनकर करुण पुकार,
किया यदि रामचन्द्र ने न्याय।
हुआ पर जनकसुता के साथ
महा अन्याय महा अन्याय॥

रामचंद्र ने न्याय किया या अन्याय किया - मैं इस झगड़े में नहीं पड़ना चाहता हूँ; लेकिन सोचने की बात यह है कि सीता के साथ न्याय हुआ या अन्याय?

सीता निर्दोष है या नहीं - यह पता नहीं लगा पाना - यह किसकी गलती है? दण्ड देनेवाले की गलती है या सीता की गलती है? सीता तो चिल्ला-चिल्लाकर कहती रही कि मैं निर्दोष हूँ। एक निरपराधी को दण्ड देना - क्या यह अन्याय नहीं है?

तुम कहते हो रामचंद्रजी कितने बड़े न्यायवादी थे कि उन्होंने पत्नी को भी नहीं बक्शा। इतना महान न्यायाधीश बनने के चक्कर में जो अपराधी नहीं था, उसको दण्ड दे दिया। तो क्या निरपराधी को दण्ड देना न्याय है? यह कौनसी डिक्शनरी में लिखा है कि निरपराधी को दण्ड देना न्याय है? चारों तरफ की दीवारों पर उन्हें यही लिखा दिखाई देता था कि सीतादेवी के साथ महाअन्याय हुआ, अन्याय हुआ, अन्याय हुआ। आकाश में से यही आवाज आती थी, जो कानों में गूँजती थी। जहाँ आँख उठाकर देखते थे, वहाँ यही दिखाई देता था।

रामचंद्रजी सोचते हैं कि तू तो न्यायाधीश था, तेरी अदालत में

केस आया था; पर तूने न्याय कहाँ किया ?

मैंने उसमें लिखा कि “जो अपने अन्याय के लिए सारे जीवनभर पछताते रहे, हमने उसी कारण उन्हें सबसे महान न्यायाधीश मान लिया और अपने केस भी उनकी अदालत में सौपने को तैयार हैं। राम हमने तेरे भरोसे नैया छोड़ दी मझधार में। जैनी तो अपनी नैया पार्श्वनाथ के भरोसे छोड़ते हैं न ? सीता ने राम के भरोसे छोड़ी थी और हम पारसनाथ के भरोसे छोड़ते हैं।

जो महापुरुष सारे जीवनभर अपनी जिस कमजोरी के कारण पश्चात्ताप करते रहे, हमने उसको उनकी क्वालिटि मान लिया। डिसक्वालिटि को क्वालिटि मान लिया। हमारी दृष्टि में क्वालिटि और डिसक्वालिटि का निर्णय नहीं है। कोई बड़ा आदमी आ जाता है तो हमारी परिभाषा बदल जाती है। हम निष्पक्ष होकर न्याय नहीं कर सकते। हम अपने चित्त में निर्णय नहीं कर सकते कि अच्छी चीज क्या है और बुरी चीज क्या है ? जो बुरा काम कोई बड़ा पुरुष कर ले, तो हम उस काम को अच्छा कहने लगते हैं। दृढ़ता से यह कहने की ताकत हम में नहीं है कि खोटा काम तो खोटा काम है, भले ही किसी ने भी किया हो।

स्वयं विष्णुकुमार और श्रुतसागर दोनों ही जिस कार्य के लिए प्रायश्चित्त लेते हैं; हम उसी काम के लिए उनकी पूजा करते हैं।

विष्णुकुमार ने दुबारा दीक्षा ली, तो उनके मुनिधर्म का मरण हो गया कि नहीं हो गया और श्रुतसागर तो मरण के लिए ही तैयार हो गये थे।

उन्होंने स्वयं जिस अपराध को मौत की सजा के योग्य माना; उस अपराध को हम गुण मान रहे हैं और उसके उल्लेखपूर्वक उनकी पूजा कर रहे हैं।

हमारे लिए अकम्पनाचार्य बेचारे हो गये, विष्णुकुमार और श्रुतसागर उनके रक्षक हो गये और वे उनसे रक्षित। इस पर भी हम ऐसा कहते फिर

रहे हैं कि जो स्वयं की भी रक्षा नहीं कर सके, वे हमारी रक्षा क्या करेंगे ?

मैं आपसे ही पूछता हूँ कि जिसकी रक्षा की वह महान है या जिसने रक्षा की वह महान है ? मान लो पारसनाथ की रक्षा पद्मावती ने की। तो हम पूजा किसकी करें पद्मावती की या पार्श्वनाथ की ?

पर अपन तो सचमुच ही पार्श्वनाथ को छोड़कर पद्मावती के पुजारी बन गये हैं। वहाँ विष्णुकुमार ने रक्षा की तो वे महान हो गये; यहाँ पद्मावती ने रक्षा की तो वे महान हो गईं। मन्दिर में ३ फुट की मूर्ति पद्मावती की और माथे पर २ इंच के पार्श्वनाथ। महिलाओं को उनसे सात हाथ दूर रहना चाहिए; पर हमने उन्हें माथे पर ही बैठा दिया।

‘रक्षा का भाव भी बंधन का कारण है’ – इसका नाम है रक्षाबंधन। मारने का भाव तो बंध का कारण है ही, लेकिन बचाने का भाव भी बंध का ही कारण है। मारने का भाव पापबंध का कारण है और बचाने का भाव पुण्यबंध का कारण है; लेकिन बंध के कारण तो दोनों ही हैं – बचाने का भाव भी और मारने का भाव भी।

‘रक्षा करने का भाव भी बंध का कारण है’ – यह कहानी में से ही निकल रहा है। मुनिराज विष्णुकुमारजी को रक्षा करने का भाव आया तो उन्हें पुण्यबंध भी अवश्य हुआ होगा; पर उससे ही उन्हें दीक्षा का छेद करना पड़ा। जो कर्म बंधे, वे तो बंधे ही; लेकिन सबसे पहिले रत्नत्रय की संपत्ति लुट गयी, गुणस्थान गिर गया। रक्षा करने का भाव भी, मुनिराजों की रक्षा करने का भाव भी बंध का कारण है; जिसके कारण उन्हें मुनिपद छोड़ना पड़ा, प्रायश्चित्त लेना पड़ा।

मुनिराज दीक्षा पुण्य बाँधने के लिए नहीं, कर्म काटने के लिए लेते हैं; बंधने के लिए नहीं, छूटने के लिए लेते हैं।

हमारे चित्त में कौन महान लगे – इससे यह मालूम पड़ता है कि हमारी दृष्टि में महानता की परिभाषा क्या है ?

कोई आकर कुछ भी करे, कितना भी उपसर्ग करे; तो भी अपने

आत्मा के ध्यान से उपयोग को बाहर लाये ही नहीं, कैंपें ही नहीं; वे ही महान अकम्पनाचार्य जैसे मुनिराज ही महानता की श्रेणी में आते हैं।

इतनी बात तो अजैनी शत्रु भी जानते थे कि मर जायेंगे; पर ये मुनिराज घाँस पर पैर नहीं रखेंगे, निकल कर नहीं भागेंगे। इससे मुनिधर्म की महानता ख्याल में आती है।

मुनिराजों ने आहार नहीं लिया था तो जनता भी उपवास कर रही थी। लेकिन जब यह पता चला कि उपसर्ग दूर हो गया है; तो हरियाली हटा दी गई। उक्त उखड़ी हुई घास को लेकर सभी जैनी भागे और अपने-अपने गाँवों में आकर खबर दी की मुनिराजों का उपसर्ग दूर हो गया है।

आप जानते हो गाँवों में आज भी रक्षाबंधन के दिन भुजरियाँ निकलती हैं, हमारे गाँव में भी निकलती हैं।

एक आदमी दूसरे आदमी को भुजरियाँ भेंट करता है।

जो बुजुर्ग लोग घर पर ही थे; उन्हें जब यह बताया गया कि मुनिराजों का उपसर्ग दूर हो गया है, तो उन्हें एकाएक विश्वास ही नहीं हुआ। तब उन्हें वह उखड़ी हुई घास प्रमाण के रूप में दी गई और कहा गया कि जिस घास से रास्ता रोका गया था, वह घास हम उखाड़कर लाये हैं।

फिर क्या हुआ, सारे मुनिराज आहार को आये, तो श्रावकों ने देखा कि सात दिन से भूखे हैं, धुएँ से गला खराब है; इसलिए आहार में सिवईयाँ बनाई गई; जिससे मुँह में डालो, तो बिना ही प्रयत्न के वे पेट में पहुँच जाए। चबाना भी सरल और गुटकने में भी ज्यादा दिक्कत न हो। उस दिन से रक्षाबंधन के दिन घरों में सिवईयाँ बनने लगीं।

भुजरियाँ और सिवइयों की यही कहानी है। जो भी हो, हम और

“धर्म परम्परा नहीं, स्वपरीक्षित साधना है।”

- पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ : ३१५

अक्षम्य अपराध

अगाध पाण्डित्य के धनी मुनिराज श्रुतसागर ने जब बलि आदि मंत्रियों से हुए विवाद का समाचार सुनाया तो आचार्य अंकपन एकदम गंभीर हो गये। जगत की प्रवृत्तियों से भलीभाँति परिचित आचार्यश्री के मुखमण्डल पर अनिष्ट की आशंका के चिह्न छिपे न रह सके।

यद्यपि जबान से उन्होंने कुछ भी नहीं कहा; तथापि उनका मनोगत अव्यक्त नहीं रहा। सहज सरलता के धनी महात्माओं का कुछ भी तो गुप्त नहीं होता।

यद्यपि कोई कुछ बोल नहीं रहा था; तथापि गम्भीर मौन पूरी तरह मुखरित था। शब्दों की भाषा से मौन की भाषा किसी भी रूप में कमजोर नहीं होती, बस उसे समझनेवाले चाहिये।

चेहरे के भावों से ही मनोगत पढ़ लेनेवाले श्रुतज्ञ श्रुतसागर को स्थिति की गम्भीरता समझते देर न लगी।

आचार्यश्री के चिन्तित मुखमण्डल ने उन्हें भीतर से मथ डाला था; अतः वे अधिक देर तक चुप न रह सके।

“अपराध क्षमा हो पूज्यपाद ! अविवेकी अपराधी के लिए क्या प्रायश्चित्त है ? आज्ञा कीजिये।”

“बात प्रायश्चित्त की नहीं, संघ की सुरक्षा की है। ऐसा कौनसा दुष्कर्म है, जो अपमानित मानियों के लिए अकृत्य हो।

जब मार्दव धर्म के धनी श्रुतसागर से भी दिगम्बरत्व का अपमान न सहा गया तो फिर मार्दव धर्म का नाम भी न जाननेवालों से क्या अपेक्षा की जा सकती है ?

मानभंग की पीड़ा उन्हें चैन न लेने देगी। अपमानित मानी क्रोधित भुंग एवं क्षुतातुर मृगराज से भी अधिक दुःसाहसी हो जाता है। आज संघ खतरे में है।” – कहते-कहते आचार्यश्री और भी अधिक गम्भीर हो गये।

आचार्य अकम्पन की गुरुतर गम्भीरता देख श्रुतसागर अन्दर से हिल गये। वे जिसे अपनी विजय समझ रहे थे, वह अकंपन को भी कंपा देनेवाला अक्षम्य अपराध था – इसका अहसास उन्हें गहराई से हो रहा था। वे स्पष्ट अनुभव कर रहे थे कि आचार्यश्री का अन्तर प्रतिदिन की भाँति प्रायश्चित्त निश्चित करने में व्यस्त नहीं, अपितु संघ की सुरक्षा की करुणा में विगलित हो रहा है।

प्रत्युत्पन्नमति श्रुतसागर को निर्णय पर पहुँचने में अधिक देर न लगी और वे आचार्यश्री के चरणों में नतमस्तक हो बोले –

“इस नादान के अविवेक का परिणाम संघ नहीं भोगेगा। मैं आज उसी स्थान पर रात्रि बिताऊँगा, जहाँ बलि आदि मंत्रियों से मेरा विवाद हुआ था – इसके लिए आचार्यश्री की आज्ञा चाहता हूँ।”

“नहीं, यह सम्भव नहीं है। परिणाम की दृष्टि से यह अपराध कितना ही बड़ा क्यों न हो, पर इसमें तुम्हारा धर्मप्रेम ही कारण रहा है।

दिगम्बरत्व के अपमान ने तुम्हें उद्वेलित कर दिया और फिर तुम्हें हमारी उस आज्ञा का पता भी तो नहीं था; जिसमें सभी संघ को मौन रहने का आदेश था, विशेषकर मंत्रियों से किसी भी प्रकार की चर्चा करने का निषेध था। अतः तुम्हें इतना कठोर प्रायश्चित्त देना मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता।”

“पूज्यवर ! सवाल प्रायश्चित्त का नहीं, संघ की सुरक्षा का है। आपने ही तो हमें सिखाया है कि अनुशासन-प्रशासन हृदय से नहीं, बुद्धि से चलते हैं।”

“श्रुतसागर के जीवन का मूल्य मैं अच्छी तरह जानता हूँ।”

“कोई भी इतना मूल्यवान नहीं हो सकता कि जिसपर संघ को न्यौछावर किया जा सके। हम आपके इस आप्तवाक्य को कैसे भूल सकते हैं कि अपराधी को दण्ड देते समय न्यायाधीश को उसके गुणों और उपयोगिता पर ध्यान नहीं देना चाहिए।”

“जानते हो श्रुतसागर लाखों में एक होता है ? समाज को उसका मूल्य आंकना चाहिये।”

“साधु सामाजिक मर्यादाओं से परे होते हैं। साधु को श्रुत के सागर से संयम का सागर होना अधिक आवश्यक है।

मैंने वाणी के संयम को तोड़ा है। मौनव्रती साधकों की महानता को वाचाल साधक नहीं पहुँच सकता। मैंने आपकी आज्ञा को भंग किया है। मेरा अपराध अक्षम्य है।”

“पर तुम्हें मेरी आज्ञा का पता ही कहाँ था ?”

“पर श्रुत के सागर को इतना विवेक तो होना चाहिए था कि राह चलते लोगों से व्यर्थ के विवाद में न उलझे। मेरा यह अविवेक तो युग के अन्त तक याद किया ही जायेगा, पर मुझे यह सह्य नहीं है कि इतिहास यह भी कहे कि प्रियतम शिष्य के व्यामोह ने आचार्य अकंपन को भी अकंपन न रहने दिया था।

मुझसे जो कुछ भी हुआ सो हुआ; पर मैं अपने गुरु की गुरुता को खण्डित नहीं होने दूँगा। आचार्यश्री को मेरे इस हठ को पूरा करना ही होगा।”

आचार्य अकंपन और भी गम्भीर हो गये। उनके गम्भीर मौन को सम्मति का लक्षण जानकर श्रुतसागर उनके चरणों में झुके, नमोऽस्तु किया और मंगल आशीर्वाद की मौन याचना करने लगे।

आचार्य अकंपन ने काँपते हुए हाथ से श्रुतसागर को आशीर्वाद देते हुए कहा -

“मैंने यह सोचा भी न था कि जिसे मैंने एक दिन सम्पूर्ण संघ के समक्ष ‘श्रुतसागर’ की उपाधि से अलंकृत किया था; उसे किसी दिन इतना कठोर प्रायश्चित्त देना होगा।

प्रिय श्रुतसागर ! तुम ज्ञान की परीक्षा में तो अनेक बार उत्तीर्ण हुए हो, आज तुम्हारे ध्यान की परीक्षा है; जीवन का रहना न रहना तो क्रमबद्ध के अनुसार ही होगा, पर मैं तुम्हारे आत्मध्यान की स्थिरता की मंगल कामना करता हूँ।

दूसरों को तो तुमने अनेक बार जीता है। जाओ, अब एक बार अपने को भी जीतो।”

कहते-कहते आचार्य अकंपन और भी अधिक गम्भीर हो गये।

आज्ञा शिरोधार्य कर जाते हुए श्रुतसागर को वे तबतक देखते रहे, जबतक कि वे दृष्टि से ओझल न हो गये। ●

हिंसा में मारने की बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना मरता नहीं है, यह अपनी द्वेषपरिणति से आप ही पाप बाँधता है। अहिंसा में रक्षा करने की बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु अवशेष हुए बिना वह जीता नहीं है, यह अपनी प्रशस्त रागपरिणति से आप ही पुण्य बाँधता है। इसप्रकार यह दोनों हेय हैं; जहाँ वीतराग होकर दृष्टा-ज्ञातारूप प्रवर्ते वहाँ निर्बन्ध है सो उपादेय है।

सो ऐसी दशा न हो तब तक प्रशस्तरागरूप प्रवर्तन करो; परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि यह भी बन्ध का कारण है, हेय है; श्रद्धान में इसे मोक्षमार्ग जाने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।

- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ : २२६

रक्षाबंधन : कुछ प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न : आपने कहा कि रक्षा करने का भाव भी बंध का कारण है, तो क्या मुनिराज विष्णुकुमार को पापबंध हुआ होगा, उनका भी नुकसान हुआ होगा ?

उत्तर : अरे, भाई ! हमने यह तो नहीं कहा कि रक्षा करने का भाव पापबंध का कारण है; हमने तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा था कि रक्षा करने का भाव पुण्यबंध का कारण है; इसलिये मुनिराज विष्णुकुमारजी को भी पुण्यबंध ही हुआ होगा; किन्तु उन्हें नुकसान तो हुआ ही, दीक्षा का छेद हो गया, गृहस्थ वेष अपनाना पड़ा, छल-कपट करना पड़ा, झूठ बोलना पड़ा। यह सब कुछ नुकसान ही तो है।

२. प्रश्न : हमने तो यह पढ़ा है कि झूठ बोलना पाप है, छल-कपट करना भी पापबन्ध का कारण है; परन्तु आप कह रहे हैं कि उन्हें पुण्यबन्ध हुआ होगा ?

उत्तर : हमने यह कब कहा कि झूठ बोलने या छल-कपट करने से पुण्यबन्ध होता है; हमने तो यह कहा कि वात्सल्यभाव के कारण उन्हें परमतपस्वी मुनिराजों की रक्षा करने का तीव्र भाव आ गया था; इस कारण उन्हें पुण्यबन्ध हुआ होगा।

३. प्रश्न : यदि वे यह सब नहीं करते तो बेचारे मुनिराजों का क्या होता ?

उत्तर : महान तपस्वी ज्ञानी-ध्यानी मुनिराजों को तुम बेचारे कहते हो ? अरे वे तो अपने आत्मा की परम शरण में थे। उनमें से एक-एक ऐसा था कि कुछ भी चमत्कार कर सकता था; पर उन्हें यह उचित ही नहीं लगा; इसलिए कुछ भी नहीं किया।

४. प्रश्न : ऐसी परिस्थिति में आज के मुनिराजों को क्या करना चाहिए ?

उत्तर : हम क्या कहें ? यह निर्णय तो उनको ही करना होगा कि उन्हें विष्णुकुमार के पथ पर चलना है या आचार्य अकंपन आदि सात सौ मुनिराजों के पथ पर। यदि विष्णुकुमार के पथ पर ही चलना है तो

फिर उनके समान ही सब कुछ करें। उन्होंने यह सब मुनिपद छोड़कर किया था; पर.....।

५. प्रश्न : उस समय भी श्रुतसागर और विष्णुकुमार जैसे मुनिराज थे ?

उत्तर : हाँ, थे तो; पर सात सौ में एक-दो, सभी नहीं। शेष सब तो आत्मा के ज्ञान-ध्यान में ही मग्न रहे थे। विपरीत से विपरीत परिस्थिति में भी आकुल-व्याकुल नहीं हुये, अपने पथ से नहीं डिगे।

पर आज तो अधिकांश को विष्णुकुमार बनना है, श्रुतसागर बनना है; मुहतोड़ जवाब देना है, विरोधियों की सात पीढ़ियों का बखान करना है और न मालूम क्या-क्या करना है। आचार्य अकंपन के आदर्श पर चलनेवाले तो उंगलियों पर गिनने लायक हैं।

श्रुतसागरजी ने वाद-विवाद एक बार ही किया था, शेष जीवनभर तो वे आत्मज्ञान-ध्यान में लीन रहे थे। इसीप्रकार विष्णुकुमारजी ने भी यह सब एक बार ही किया था, आगे-पीछे तो वे भी आत्मज्ञान-ध्यानरत रहे। यदि उन्हें आदर्श बनाना है तो उनके आत्मध्यानवाले रूप को अपना आदर्श क्यों नहीं बनाते ?

६. प्रश्न : मुनिराजों की बात जाने दो, पर हम गृहस्थों को तो उनकी पूजा ही करनी चाहिए न ?

उत्तर : अवश्य करना चाहिए; पर उनके इन कार्यों के कारण नहीं, अपितु उनकी वीतरागता के कारण, उनके आत्मध्यान के कारण।

७. प्रश्न : इन कार्यों के कारण क्यों नहीं, यह भी तो..... ?

उत्तर : हाँ, यह भी अच्छा कार्य है, पर उन्होंने जब यह कार्य किया था, तब तो वे अत्रती गृहस्थ बन गये थे। क्या अत्रती गृहस्थों की भी पूजन की जाती है ? उनका यह बावनियों का रूप पूज्य नहीं हो सकता और इसके कारण उनकी पूजा भी नहीं हो सकती।

८. प्रश्न : आप तो ज्ञान-ध्यान में लीन साधुओं के ही गीत गाये जा रहे हैं; कुछ संत समाज का काम करनेवाले भी तो चाहिए। आचार्य समन्तभद्र ने भी तो इसीप्रकार प्रभावना की थी ? क्या उनके बारे में भी आपका सोचना ऐसा ही है ?

उत्तर : अरे भाई ! आचार्य समन्तभद्र तो रत्नकरण्डश्रावकाचार में स्वयं ही लिखते हैं कि -

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।

ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते ॥

पाँच इन्द्रियों के विषयों से विरक्त, आरंभ-परिग्रह से रहित और ज्ञान-ध्यान में लीन तपस्वी ही प्रशंसा योग्य हैं।

इसप्रकार हम भी आचार्य समंतभद्र की बात को ही प्रस्तुत कर रहे हैं।

९. प्रश्न : उन्होंने अपनी भक्ति के माध्यम से शिव की पिंडी में से चन्द्रप्रभ भगवान को प्रगट कर दिया था।

उत्तर : उन्होंने जो कुछ भी किया था, वह सब मुनिपद छोड़कर किया था। क्या मुनिपद पर रहते हुए भी शिवजी को भोजन कराने की असत्य बात कहना, चोरी से वह भोजन खुद खा जाना आदि कार्य किये जा सकते हैं ? धर्म की बात तो बहुत दूर क्या इन्हें पुण्य कार्य भी कहा जा सकता है ? क्या आप यह चाहते हैं कि आज के युग में भी कोई ऐसा करे ? अरे, उनकी दीक्षा का भी तो छेद हो गया था।

ये कुछ बातें हैं, जो गंभीर चिंतन-मनन की अपेक्षा रखती हैं।

ज्ञान-ध्यान से विरक्त और आरंभ-परिग्रह के विकल्पों में उलझे कुछ लोग जब आचार्य समंतभद्र से अपनी तुलना करते हैं तो हंसी आती है।

१०. प्रश्न : आचार्य समन्तभद्र को तो भस्मकव्याधि हो गई थी; इसलिए उन्हें ऐसा करना पड़ा ?

उत्तर : यह बात तो सत्य ही है; फिर भी कुछ प्रश्न चित्त को आन्दोलित करते हैं। उन्हें अपनी व्याधि के शमन के लिये विधर्मियों का सहारा क्यों लेना पड़ा, असत्य क्यों बोलना पड़ा, चोरी से पेट क्यों भरना पड़ा और आहार-जल की शुद्धि से विहीन आहार क्यों लेना पड़ा ?

क्या यह जैन समाज का कर्तव्य नहीं था कि उनके आहार-पानी की शुद्ध सात्विक व्यवस्था करता, उनकी व्याधि का अहिंसक उपचार कराता।

अरे भाई ! मुनिपद तो उन्होंने छोड़ ही दिया था; पर यदि हम सहयोग करते तो वे निर्मल आचरणवाले श्रावक तो रह ही सकते थे। क्या यह हम सबका दुर्भाग्य नहीं है कि उन्हें ऐसा सब कुछ करना पड़ा, जो एक श्रावक के लिए भी उचित नहीं था।

जिन्होंने घर-बार, पत्नी-परिवार सब कुछ छोड़ दिया; हम उन संतों को भी समाज के काम में लगाना चाहते हैं, उनसे ही अपने तीर्थो-मन्दिरों का उद्धार कराना चाहते हैं; अरे भाई ! यह तो गृहस्थों के कार्य हैं; इन्हें तो हम सबको मिलकर करना चाहिए। सन्तों से तो मात्र आत्मोद्धार में ही प्रेरणा लेना चाहिए, सहयोग लेना चाहिए; उन्हें इन कामों में उलझाना कोई समझदारी का काम तो नहीं है।

११. प्रश्न: भाई को राखी बाँधने और बहिन से राखी बाँधवाने की बात तो इस कहानी में कहीं आई ही नहीं ? फिर इसे रक्षाबंधन क्यों कहते हैं ?

उत्तर: रक्षा का भाव भी बंधन है, बंध का कारण है, यह बताने के लिये ही - इस पर्व का नाम रक्षाबंधन रखा गया हो तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

जो भी हो, पर इतनी बात नक्की और पक्की है कि यद्यपि मुनिराजों को शुभोपयोग भी होता है; परन्तु सर्वोत्कृष्ट मुनिदशा तो शुद्धोपयोगरूप ही है, आत्मज्ञानपूर्वक आत्मध्यानरूप ही है।

शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी मुनिराज अलग-अलग नहीं होते। जब मुनिराज छठे गुणस्थान में रहते हैं, तब शुभोपयोगी होते हैं और जब वे ही मुनिराज सातवें या उसके भी आगे जाते हैं; तब शुद्धोपयोगी होते हैं।

छठवाँ गिरने का गुणस्थान है और सातवाँ आगे बढ़ने का। छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज अपनी तीन कषाय के अभावरूप शुद्धपरिणति के कारण और आगे के समस्त मुनिराज अपनी शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग के कारण परमपूज्य हैं, वंदनीय हैं, अभिनन्दनीय हैं।

अन्त में मैं आत्मध्यान में लीन अकंपन आदि सात सौ मुनिराजों और मुनिराज श्री श्रुतसागर एवं विष्णुकुमार के चरणों में शत-शत वंदन के साथ उक्त चर्चा से अभी विराम लेता हूँ। ●

दीपावली

अपनी प्रकृति से शाश्वत पर्व दीपावली से लगभग सभी भारतीय धर्मों ने अपना संबंध जोड़ रखा है।

हिन्दु धर्म में श्रद्धा रखनेवाले कहते हैं कि दशहरे के दिन रावण-वध करके और महासती सीताजी को वापिस लाकर भगवान श्रीराम आज के दिन अयोध्या वापिस आये थे तो उनके स्वागत में दीपावलियाँ की गई थीं और उनका जोरदार स्वागत किया गया था। उसी के उपलक्ष्य में यह दीपावली पर्व मनाया जाता है।

आर्य समाजी कहते हैं कि आर्यसमाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती का स्वर्गवास आज ही हुआ था। इसकारण यह दीपावली पर्व मनाया जाता है।

जैनियों के यहाँ तो यह बात न केवल पौराणिक आधार पर प्रचलित है कि आज के दिन भगवान महावीर को निर्वाण की प्राप्ति हुई थी और उनके परमशिष्य प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी; अपितु इतिहास से भी यह बात प्रमाणित है।

यह सब कुछ होने पर भी यह समझ में नहीं आता कि उक्त घटनाओं से तराजू की पूजा से क्या संबंध है, हिसाब-किताब का क्या संबंध है, लक्ष्मीपूजा के नाम पर पैसे की पूजा से क्या संबंध है ?

उक्त घटनाएँ पूर्णतः सत्य होने पर भी लगता है कि दीपावली उसके भी पहले प्रचलित रही होगी।

जो भी हो, हमारे इस आलेख का उद्देश्य उक्त सभी बातों की तह में जाना नहीं है। इसमें तो हम मात्र भगवान महावीर के निर्वाण और गौतमस्वामी को सर्वज्ञता प्राप्ति के सन्दर्भ में आज की जैन समाज में होनेवाली गतिविधियों और प्रसंगों पर मंथन करना चाहते हैं।

आज हम दीपावली के दिन निर्वाण लाडू चढ़ाते हैं, दीपक जलाते हैं, पटाखें फोड़ते हैं, एक-दूसरे को मुबारकबाद देते हैं; हैप्पी दिवाली बोलते हैं, एक-दूसरे के घर जाते हैं तो घरवाले आनेवालों को लड्डू खिलाकर स्वागत करते हैं, दीपावली के कार्ड डालते हैं; अनेक प्रकार से खुशियाँ मनाते हैं।

आज के दिन हम जिसतरह का वातावरण देखते हैं; उससे लगता ही नहीं कि आज भगवान महावीर हमें छोड़कर चले गये थे।

हिन्दू भाईयों के लिये तो यह पर्व राम के संयोग का पर्व है; पर हमारे लिये तो भगवान महावीर के वियोग का पर्व है – हम यह क्यों भूल जाते हैं ?

हम एक-दूसरे को किस बात की यह बधाई देते हैं, मुबारक देते हैं?

कल तक भगवान महावीर थे तो हमें उनका प्रवचन सुनने जाना पड़ता था; पर वे चले गये हैं तो अब छुट्टी मिल गई। क्या हम इस बात की ही खुशियाँ मनाते हैं ?

अरे भाई ! यह ईद नहीं, मुहर्रम है; संयोग का नहीं वियोग का पर्व है, खुशियाँ मनाने का नहीं, संजीदगी का पर्व है।

यह बात तो ऐसी ही हुई न कि एक बालक शतरंज खेल रहा था। इतने में किसी ने आकर समाचार सुनाया कि – तेरी माँ मर गई है।

उसने कहा – ठीक है और वह अपने खेल में मग्न हो गया।

उससे फिर कहा गया कि तुम सुनते नहीं हो, मैं यह कह रहा हूँ कि तुम्हारी माँ मर गई है। फिर भी वह उसीप्रकार खेलता रहा।

जब उसे फिर सचेत करते हुये कहा गया कि तुम सुनते ही नहीं हो तो उसने कहा कि सुन लिया न ? मुझे तुम्हारी बात याद भी हो गई है कि तुम कह रहे हो कि मेरी माँ मर गई है, अब तो सुन लिया न ?

इसका अर्थ यह हुआ कि या तो वह 'माँ' शब्द का अर्थ नहीं जानता या फिर उसे मरने शब्द का भावभासन नहीं है; अन्यथा वह इसप्रकार खेलता नहीं रह सकता था।

जब उससे यह कहा गया तो वह कहने लगा कि मैं माँ शब्द का अर्थ भी जानता हूँ और मरने का भाव भी समझता हूँ। माँ माने मर और मरना माने डेथ हो जाना। अब तो ठीक है – ऐसा कहकर वह बालक फिर खेल में मग्न हो गया।

बात यह है कि जब-जब वह बालक माँ की बात नहीं मानता था, तब-तब माँ कहती थी कि यदि तू मेरी बात नहीं मानेगा तो मर जाऊँगी।

ऐसा कहने पर भी नहीं मानता तो माँ मरने का अभिनय करके लेट जाती और कहती कि लो मैं मर गई हूँ; पर उसके मनाने पर, रोने-पीटने पर; उसे मनाने लगती थी।

अतः वह यही जानता था कि मरना ऐसा ही होता है। अभी मैं जाऊँगा, माँ को मनाऊँगा; नहीं मानेगी तो रोने लगूँगा और सब कुछ ठीक हो जायेगा। यही कारण था कि 'माँ मर गई है' – यह सुनने के बाद भी वह खेलता रहता है।

यदि वह उक्त वाक्य का सही अर्थ समझ जाता तो निश्चितरूप से आकुल-व्याकुल हो जाता, सामान्य नहीं रह सकता था।

उसीप्रकार भगवान महावीर के निर्वाण होने के सही भाव हमारे ज्ञान में, ध्यान में नहीं आ रहा है; इसकारण ही हम इस अवसर पर एक-दूसरे को मुबारक बाद देते हैं, खुशियाँ मनाते हैं, नये-नये कपड़े पहनते हैं और लड्डू खाते हैं।

यदि निर्वाण होने का सही भाव हमारे ज्ञान में होता तो हम सबकी यह स्थिति नहीं होती।

शब्दों में तो हम सबकुछ जानते हैं, क्योंकि हम भाषा के पण्डित हैं न, पर हमें भाव भासित नहीं होता।

इस बात को समझने के लिए आपको एक कल्पना करनी होगी कि हम आज के नहीं, भगवान महावीर के जमाने के हैं और जिस दिन से भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरना आरंभ हुई थी, उसी दिन से

उनके नियमित श्रोता रहे हैं। एक दिन भी ऐसा नहीं जाता था कि जब उनकी दिव्यध्वनि सुनने के लिए उपस्थित नहीं रहते थे। धंधा-पानी सबकुछ छोड़कर उनके ही हो गये थे।

धन्य थी वह तेरस जिस दिन आपने उनका अंतिम व्याख्यान सुना था और जिसे आज इन लक्ष्मी के पुजारियों ने धनतेरस बना लिया है।

इस दिन लोग कुछ न कुछ धन-सम्पत्ति अवश्य खरीदते हैं। हीरे-जवाहरात, सोने-चाँदी के आभूषण; कुछ भी संभव न हो तो कुछ बर्तन ही खरीद लेते हैं।

हाँ, तो धन्य थी वह तेरस, जब आपने उनका अन्तिम प्रवचन सुना था; पर चतुर्दशी के दिन आपको उनके मात्र दर्शन ही मिले थे, प्रवचन सुनने को नहीं मिला था। इसीकारण उक्त चतुर्दशी को रूप चतुर्दशी कहा जाता है, जरा कल्पना कीजिये कैसा लगा होगा उस दिन आपको।

चतुर्दशी के दिन न सही प्रवचन; पर दर्शन तो मिल ही गये थे; किन्तु जब अमावस्या के दिन पहुँचे तो न प्रवचन मिला न दर्शन; क्योंकि अमावस की यह काली रात हमारे महावीर को लील गई थी, उनका निर्वाण हो गया था।

अब जरा कल्पना कीजिये कि उस समय आपको कैसा लगा होगा? क्या आपने उस दिन लड्डू बाँटें होंगे, लड्डू खाये होंगे, पटाखें छोड़े होंगे, एक-दूसरे को मुबारकबाद दी होगी, खाते-वही संभाले होंगे, तराजू-बाँटों की पूजा की होगी?

नहीं, तो फिर आज यह सब कुछ क्यों? वस्तुतः बात यह है कि यह सब वैदिक संस्कृति का प्रभाव है। उनके यहाँ तो लंका को जीतकर राम सीता सहित वापिस आये थे; इसकारण यह सबकुछ होता ही था, होना भी चाहिए; किन्तु हमारे आराध्य का तो वियोग हुआ था। क्या संयोग-वियोग का उत्सव एक सा हो सकता है?

पर बात यह है कि बहुमत अल्पमत को प्रभावित करता है। ऐसा ही कुछ इसमें हुआ है।

यदि कोई अपने पिता की मृत्यु पर इसीप्रकार नाचे-गाये और खुशियाँ मनाये तो आप क्या कहेंगे? अरे भाई! आज तो हमारे परमपिता-धरमपिता भगवान महावीर का वियोग हुआ है। ऐसी स्थिति में यह सब क्या है?

जब हमारे घर में पिताजी की लाश रखी हो और उसे श्मशान ले जाने की तैयारी हो रही हो, उसे श्मशान ले जा रहे हों, जला रहे हों; तब कैसा वातावरण होता है? इसकी कल्पना तो आपको होगी ही, क्या कहीं ऐसा दृश्य भी देखने में आया है कि जैसा आज दीपावली पर देखने को मिलता है। यदि नहीं तो फिर भगवान महावीर के वियोग के अवसर पर यह सब क्यों हो रहा है?

इस पर लोग कहते हैं कि हमारे पिता की तो मृत्यु होती है और भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था। मृत्यु शोक का कारण है, निर्वाण नहीं।

बात तो ठीक है, पर वियोग तो दोनों में ही समान होता है। जब आत्मा एक देह छोड़कर दूसरी देह धारण करता है, तब उसे मरण कहा जाता है और जब देह को छोड़कर विदेह हो जाता है, अनन्त काल तक के लिए विदेह हो जाता है, देह धारण नहीं करता तो उसे निर्वाण कहते हैं।

हमारे यहाँ दोनों को ही महोत्सव कहते हैं - निर्वाण महोत्सव और मृत्यु महोत्सव; यदि समाधिमरणपूर्वक हो तो मृत्यु भी एक महोत्सव है; पर यह मृत्युमहोत्सव नाचकर, गाकर, खा-पीकर तो नहीं मनाया जाता; इसमें एक प्रकार की गंभीरता होती है।

इस पर लोग कहते हैं कि आखिर आप चाहते क्या हैं? क्या दीपावली के दिन हम सब लोग रोने बैठ जावें?

नहीं, भाई! रोने बैठने की बात नहीं है; क्योंकि हमारे आराध्य श्री

भगवान महावीर को आज वह सब कुछ प्राप्त हुआ है, जिसके लिए वे अनेक भवों से प्रयत्नशील थे।

वे आज अव्याबाध सुखी हो गये थे। आज उन्होंने आठों कर्मों को जीत लिया था; इसलिए यह विजय का पर्व है। इस बात की हमें खुशी भी है; पर इसी खुशी में हँसना-खेलना नहीं है, खाना-पीना नहीं है, आमोद-प्रमोद नहीं है, लक्ष्मी के नाम पर पैसे की पूजा करना नहीं है; इसमें एक सात्विक गंभीरता है; क्योंकि हमारे प्रिय को सबसे बड़ी उपलब्धि हो जाने पर भी हमारे लिए अब वे उपलब्ध नहीं रहे, यह एक महान हितोपदेशी, हितैषी के वियोग का अवसर है।

यह बेटी की विदाई जैसा अवसर है; जिसमें खुशी के साथ-साथ आँखें नम रहती हैं, वातावरण में एक विशेष प्रकार की गंभीरता रहती है। बाजे बजते हैं, पर नाच-गाना नहीं होता।

जिस बात के लिए हम वर्षों से प्रयास कर रहे थे, जिसके लिए हमने अपना सब कुछ लगा दिया था; आज वह मंगल अवसर आया है कि जब शादी के बाद बेटी सुयोग्य, सुशील वर के साथ विदा हो रही है; इसकारण हमें अपार प्रसन्नता है; पर वह जा रही है, अब वह हमें सदा सहज सुलभ नहीं होगी, कभी-कभार ही मिलना होगा। यदि विदेश जाती हो तो मिलना और भी दुर्लभ होगा।

उसीप्रकार हमारे आराध्य को एक बहुत बड़ी सफलता प्राप्त हुई और वे अनन्त काल के लिए मुक्तिपुरी चले गये हैं, अब वे हमें कभी नहीं मिलेंगे - यह सुनिश्चित होने पर खेलना-खाना, बधाई देना कैसे संभव हो सकता है, उछल-कूद कैसे संभव है ?

ईद और मुहर्रम का अन्तर तो मुसलमान भी समझते हैं। मुहर्रम के दिन वे छाती पीटते हैं; पर हम तो सब कुछ भूल गये हैं।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि अब आप ही बताइये कि आखिर हम दीपावली मनाये कैसे ?

जिसप्रकार की दीपावली भगवान महावीर के प्रथम शिष्य गौतम गणधर ने मनाई थी; हमें भी उसीप्रकार मनाना चाहिए; क्योंकि भगवान महावीर के बाद हमारे मुख्य मार्गदर्शक वे ही थे।

अबतक वे गणधरदेव भगवान महावीर की दिव्यध्वनि छह-छह घड़ी दिन में तीन बार, इसप्रकार कुल मिलाकर १८ घड़ी सुनते थे। २४ मिनिट की एक घड़ी होती है; इसप्रकार वे प्रतिदिन ७ घंटे और १२ मिनिट दिव्यध्वनि सुनते थे।

तीस वर्ष में एक दिन भी ऐसा नहीं गया कि जब दिव्यध्वनि के अवसर पर उनकी अनुपस्थिति रही हो।

थोड़ा-बहुत स्वाध्याय कर लेने मात्र से कुछ लोग ऐसी बातें करने लगते हैं कि अब हमें जिनवाणी सुनने या पढ़ने की क्या आवश्यकता है, हम तो सब कुछ जानते हैं। उनसे मैं कहना चाहता हूँ कि अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांग की रचना करने वाले, चार ज्ञान के धारी गणधरदेव भी जब प्रतिदिन ७-७ घंटे जिनवाणी सुनते थे, महावीर की वाणी सुनते थे तो क्या तुम उनसे भी महान हो गये हो ?

इस पर वह कह सकता है कि अभी महावीर तो हैं नहीं; हम किसकी वाणी सुने ?

उनसे हमारा कहना है कि जो महावीर की वाणी सुनाता हो, उससे सुनिये। यदि कोई सुनानेवाला न मिले तो वीतरागता की पोषक जिनवाणी को स्वयं पढ़िये। और जो भी करना हो, करिये; पर जिनवाणी के अध्ययन से विरत न हो; क्योंकि कलियुग में एकमात्र परमशरण जिनवाणी ही है।

कुछ लोग कहते हैं कि जब महावीर को निर्वाण हुआ था, उस समय वहाँ गौतम स्वामी नहीं थे। कारण बताते हुए वे कहते हैं कि महावीर को लगा कि मेरा यह प्रियतम शिष्य मेरे वियोग को सहन न कर सकेगा। कुछ अप्रिय घटित न हो जाय - इस आशंका से उन्हें दूर भेज दिया गया था।

महावीर का निर्वाण पावापुरी में हुआ था और उसी दिन गौतम स्वामी को केवलज्ञान गुणावा में हुआ। अतः यह तो सिद्ध ही है कि वे अन्तिम समय में उनके पास नहीं थे।

उक्त सन्दर्भ में मेरा कहना यह है कि क्या भगवान के ज्ञान में यह बात ज्ञात न थी कि आज शाम को गौतम स्वामी को केवलज्ञान होनेवाला है। यदि पता था तो फिर उन्हें ऐसा विकल्प कैसे आ सकता है? अरे वे तो विकल्पातीत हो गये थे। इसप्रकार के विकल्प की बात से तो उनकी सर्वज्ञता के साथ-साथ वीतरागता भी खण्डित हो जाती है।

विगत तीस वर्ष तक भगवान की दिव्यध्वनि सुननेवाले भी यदि वियोग बरदाशत नहीं कर पाये तो फिर कौन ऐसा होगा, जो यह सब सहेगा?

इष्ट का वियोग होने पर दुःख तो सभी को होता है; पर रागी से रागी प्राणी भी जीते तो हैं ही। प्रिय पति के वियोग में पत्नियाँ जीती हैं, माँ-बाप के वियोग में बाल-बच्चे जीते हैं और बच्चों के वियोग में माँ-बाप भी जीते ही हैं।

जब रागी लोग भी सब कुछ बरदाशत कर लेते हैं तो विरागियों के लिए तो यह सहज ही है। गौतमस्वामी जैसे विरागी गणधरदेव के लिए इसप्रकार की चिन्ता करना पड़े - यह समझ के बाहर की बात है।

इस पर वे प्रश्न करते हैं कि यदि ऐसा नहीं है तो फिर वे वहाँ उपस्थित क्यों नहीं थे?

अरे, भाई! जबतक दिव्यध्वनि खिरती थी, तबतक वे निरन्तर उन्हीं के पास रहे; पर जब दिव्यध्वनि खिरना बन्द हो गई तो वे वहाँ नहीं रहे, गुणावा चले गये। गुणावा क्यों अपने में चले गये।

शाम को ही उन्हें केवलज्ञान हो गया - यह इस बात का प्रतीक है कि वे पूर्ण वीतरागता की ओर तेजी से बढ़ रहे थे; अन्यथा यह सब कैसे होता?

पूर्ण वीतरागता की ओर बढ़नेवाले के संबंध में केवलज्ञानी ऐसी आशंका करें कि वह वियोग सह न पावेगा - यह बात महावीर और गौतमस्वामी - दोनों का ही अपमान है।

और गुणावा पावापुरी से कितना दूर है? यह भी तो हो सकता है कि वह महावीर के समवशरण की मर्यादा में ही आता हो; क्योंकि समवशरण का विस्तार भी तो कम नहीं होता।

यह बात भी तो है कि आखिर यह बात कबतक छुपती? जब पता चलता, तब भी तो कुछ हो सकता था।

अरे, भाई! सर्वज्ञ सोचा नहीं करते; क्योंकि सोचने की क्रिया तो मति-श्रुतज्ञान में होती है और उनके मति-श्रुतज्ञान नहीं, केवलज्ञान था।

हमारी चर्चा का मूल बिन्दु तो यह है कि आखिर हम दीपावली मनाये कैसे? इसके उत्तर में यह कहा गया था कि जिसप्रकार उनके वरष्ठितम शिष्य गौतमस्वामी ने मनाई थी, उसीप्रकार हम भी मनायें।

भगवान महावीर के वियोग के अवसर पर गौतमस्वामी रोने नहीं बैठ गये थे; अपितु जगत से दृष्टि हटाकर अपने में चले गये थे। मानों अबतक दिव्यध्वनि सुनने के विकल्प में ही वे निर्विकल्प नहीं हो सके थे। अब वह विकल्प टूटा तो निर्विकल्प होकर अपने में चले गये।

अपने में गये सो ऐसे गये कि वापिस बाहर आये ही नहीं; केवलज्ञान लेकर ही रहे और वीतरागी तत्त्वज्ञान को जो झंडा अबतक भगवान महावीर फहरा रहे थे, उनके वियोग में उन्होंने उसे थाम लिया, गिरने नहीं दिया। उनकी दिव्यध्वनि खिरने लगी और श्रोता पूर्ववत् ही लाभ उठाने लगे।

इसप्रकार भगवान महावीर की वाणी में समागत तत्त्वज्ञान की धारा अविरल रूप से प्रवाहित होती रही।

महात्मा गांधी ने आजादी की जंग जीतने के लिये मारनेवालों की नहीं, मरनेवालों की एक फौज तैयार की थी; जो बिना कुछ लिये-दिये देश के लिए मरने-मिटने को तैयार थी।

सामने अत्याचारी मारनेवालों की फौज थी और आजादी के दीवानों को मारने पर उन्हें तरक्री मिलती थी, पुरस्कार मिलता था; पर गांधी के इन फौजियों को कुछ भी नहीं मिलता; अपितु उनका सब

कुछ छीन लिया जाता था। फिर भी आजादी के दीवानों ने आजादी के झण्डे को गिरने नहीं दिया।

तिरंगा झंडा लिए आजादी के दीवानों का जुलूस निकलता तो उसे तितर-बितर करने के लिए गोलियाँ चलाई जाती।

जाते हुए जुलूस को पशुबल से रोककर झंडा लेनेवाले से कहा कि तुम वापिस लौट जाओ, अन्यथा मैं गोली मार दूँगा।

एक, दो, तीन कहा और उसने उसे गोली मार दी। वह गिर गया, पर झंडा नहीं गिरा; क्योंकि उसी के साथी ने झंडे को थाम लिया।

जब उससे यह कहा गया कि तुम वापिस जाओ, अन्यथा गोली मार दी जावेगी। मैं तीन तक आवाज लगाऊँगा, यदि फिर भी नहीं गये, झंडा नहीं झुकाया तो गोली मार दूँगा।

ऐसा कहकर ज्यों ही उसने एक-दो-तीन कहना आरंभ किया तो वह आजादी का दीवाना बोला -

क्या एक-दो-तीन करता है; गोली क्यों नहीं मारता ? अरे, तू यह भी नहीं जानता कि अभी-अभी तूने झंडेवाले को यही कहकर गोली मारी है और मैंने मरनेवाले के हाथ से ही झंडा थामा है।

हमारा कुछ भी क्यों न हो; पर आजादी का झंडा नहीं गिरेगा, नहीं झुकेगा। आखिर तिरंगा लहराता ही रहा और अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना पड़ा।

इसीप्रकार महावीर के झंडे को गौतम स्वामी ने थाम लिया। उसके बारह वर्ष बाद गौतम स्वामी का निर्वाण हुआ तो उसी दिन सुधर्मस्वामी को केवलज्ञान हुआ। इसीप्रकार उसके बारह वर्ष बाद सुधर्मस्वामी को निर्वाण हुआ तो जम्बूस्वामी को केवलज्ञान हुआ। ये तीन अनुबद्ध केवली कहे जाते हैं।

उसके बाद यह झंडा श्रुतकेवलियों ने थामा और उसके बाद आचार्य कुन्दकुन्द जैसे अनेक समर्थ आचार्यों ने, महापण्डित टोडरमल जैसे अनेक

ज्ञानी पण्डितों ने थामा तथा अब उसके भी बाद आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने यह झंडा थामा था और वह आज हमारे हाथ में है।

हमारे हाथ का मतलब अकेले हमारे हाथ में नहीं, पण्डित हुकमचन्द के हाथ में भी नहीं; अपितु उन सब लोगों के हाथ में कि जो लोग महावीर की वाणी को जन-जन तक पहुँचाने में जुटे हुए हैं, अहर्निश उसी में लगे हुए हैं।

यह भी हो सकता है कि आप भी उनमें से एक हों।

जिसप्रकार हम कह रहे हैं कि वह झंडा आज हमारे हाथ में है; उसीप्रकार आप भी कह सकते हैं कि वह झंडा हमारे हाथ में है; पर मात्र कहने से काम नहीं चलेगा, उसके लिये अपने जीवन का समर्पण करना होगा।

हमारी माँ से सम्पूर्ण जगत माँ कहे तो किसी को क्या ऐतराज हो सकता है; पर हमारी पत्नी से अपनी पत्नी की बात कहे तो नहीं चलेगा।

अरे, भाई ! महावीर की वाणी, जिनवाणी तो हमारी माँ है; सारा जगत उसे अपनी माँ माने तो हमें अपार प्रसन्नता होगी।

हम और आप व्यक्तिगत रूप से अकेले इतने समर्थ नहीं हैं कि इस गुरुतर भार को ढो सके; इसलिए सबके सहयोग की परम आवश्यकता है।

आओ, हम सब मिलकर इस भार को संभालें, इस महान कार्य को अंजाम दें; इसमें ही हम सबका भला है और दीपावली का वास्तविक उत्सव भी यही है।

हमारी भावना तो बस इतनी ही है कि महावीर का झंडा झुकने न पावे; उनकी वाणी को जन-जन तक पहुँचाने का महान कार्य निरन्तर चलता रहे; इस दीपावली के अवसर पर इससे बढ़िया श्रद्धांजलि और कुछ नहीं हो सकती।

दीपावली मनाने का रूप ऐसा ही होना चाहिए कि महावीर की वाणी को जन-जन तक पहुँचाने के कार्य में तेजी आवे।

अधिक क्या ? समझदारों को इतना ही पर्याप्त है। ●

दीपावली : कुछ प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न : क्या आपके पास ऐसी कोई योजना है कि जिसके द्वारा भगवान महावीर की वाणी को, उनके बताये तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाया जा सके ?

उत्तर : अरे, भाई ! सबसे पहली बात तो यह है कि प्रथमतः तो भगवान महावीर के बताये तत्त्वज्ञान को स्वयं समझना होगा; क्योंकि स्वयं समझे बिना न तो आत्मकल्याण ही हो सकता है और उसका प्रचार-प्रसार ही किया जा सकता है।

स्वानुभूति के लिए स्वयं में सिमटना जरूरी है और तत्त्वप्रचार के लिए समाज में फैलना, फैलकर उसी में समाहित हो जाना आवश्यक है।

यद्यपि ये दोनों क्रियाएँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं; तथापि ज्ञानियों के जीवन में इनका संतुलित समुचित समावेश होता ही है।

इसके लिए जिनागम का स्वाध्याय करना, अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इसके बिना भगवान महावीर की वाणी का मर्म समझना संभव नहीं है।

भगवान महावीर की वाणी को जन-जन तक पहुँचाने के मार्ग को प्रशस्त करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं -

“हे भव्यजीवो ! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं। शब्द या अर्थ का बांचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारम्बार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं, वहाँ जैसे बने तैसे अभ्यास करना। यदि सर्व शास्त्रों का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम व दुर्गम, अनेक अर्थों का निरूपण है; वहाँ जिसका बने उसका ही अभ्यास करना; परंतु अभ्यास में आलसी नहीं होना।

देखो ! शास्त्राभ्यास की महिमा ! जिसके होने पर जीव परम्परा से आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, जिससे मोक्षरूप फल प्राप्त होता है।

यह तो दूर ही रहो, शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रगट होते हैं -

१. क्रोधादि कषायों की मंदता होती है।
२. पंचेन्द्रियों के विषयों में होनेवाली प्रवृत्ति रुकती है।
३. अति चंचल मन भी एकाग्र होता है।
४. हिंसादि पाँच पाप नहीं होते।
५. स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल संबंधी चराचर पदार्थों का जानना होता है।
६. हेय-उपादेय की पहचान होती है।
७. आत्मज्ञान सन्मुख होता है। (ज्ञान आत्मसन्मुख होता है।)
८. अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है।
९. लोक में महिमा/यश विशेष होता है।
१०. सातिशय पुण्य का बंध होता है।

इतने गुण तो शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही प्रगट होते हैं, इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना।

जैसे हो सके वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करो, अन्य जीवों को जैसे बने वैसे शास्त्राभ्यास कराओ और जो जीव शास्त्राभ्यास करते हैं, उनकी अनुमोदना करो।

पुस्तक लिखवाना वा पढ़ने-पढ़ानेवालों की स्थिरता करना, इत्यादि शास्त्राभ्यास के बाह्यकारण, उनका साधन करना; क्योंकि उनके द्वारा भी परम्परा कार्यसिद्धि होती है व महान पुण्य उत्पन्न होता है।

उत्तम निवास, उच्च कुल, पूर्ण आयु, इन्द्रियों की सामर्थ्य, निरोगपना, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय, बुद्धि की प्रबलता इत्यादि की प्राप्ति होना उत्तरोत्तर महादुर्लभ है। यह प्रत्यक्ष दिख रहा है और इतनी सामग्री मिले बिना ग्रन्थाभ्यास बनता नहीं है। सो तुमने भाग्य से यह अवसर पाया है; इसलिये तुमको हठ से भी तुम्हारे हित के लिये प्रेरणा करते हैं।”

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार मात्र इतना ही है कि परम वीतरागी सर्वज्ञ भगवान महावीर की वाणी में समागत वीतरागी तत्त्वज्ञान को १. सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका पीठिका (गुणस्थान विवेचन, पृष्ठ : २८-२९)

भलीभाँति जानकर, उसके माध्यम से अपने आत्मा को पहिचान कर, उसी में अपनापन स्थापित कर उक्त तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने में आपसे जो कुछ भी बन सके, अवश्य करना। दीपावली मनाने का एक मात्र यही सही तरीका है।

२. प्रश्न : आज भगवान महावीर का असली उत्तराधिकारी कौन है ?

उत्तर : अरे, भाई ! हम इस बात पर लड़ते हैं कि भगवान महावीर का असली उत्तराधिकारी कौन है ? उनकी विरासत आज किसके कब्जे में है; पर भाई ! उनकी असली सम्पत्ति क्या है ? पावापुरी का जलमन्दिर या वैशाली के राजमहल ?

अरे भाई ! उनकी असली सम्पत्ति तो वह तत्त्वज्ञान है, जो उनकी दिव्यध्वनि में लगातार तीस वर्ष तक आता रहा था।

आत्मा से परमात्मा बनने की विधि और प्रक्रिया जो उन्होंने सौ इन्द्रों की उपस्थिति में बताई थी, गणधरदेव की उपस्थिति में बताई थी; वह विधि और प्रक्रिया ही उनकी असली सम्पत्ति है; जो लोग उसकी संभाल करें, वे ही उनके सच्चे अनुयायी हैं, सच्चे उत्तराधिकारी हैं।

जिस जर और जमीन को वे तृणवत त्यागकर चले गये थे, आज हम उसी को बटोरने में लगे हुए हैं, आपस में लड़ रहे हैं, झगड़ रहे हैं।

किसी मन्दिर या तीर्थ क्षेत्र पर कब्जा कर लेने से कोई महावीर का उत्तराधिकारी नहीं हो जाता। इसीप्रकार किसी को राजतिलक करने से कोई महावीर का उत्तराधिकारी नहीं बनेगा; उनका बताया रास्ता जो जानता हो, उस पर भूमिकानुसार चलता भी हो; वह ही उनका सच्चा उत्तराधिकारी है।

अरे, भाई ! उत्तराधिकार की बातें बन्द करके आत्मकल्याण की बात करें और उनकी दिव्यध्वनि में समागत वीतरागी तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने की योजना पर बात करें; इसमें ही हम सब की भलाई है।

३. प्रश्न : अच्छा तो आप यह बताइये कि इस महापर्व का नाम दीपावली क्यों पड़ा और इस पर्व पर दीपक क्यों जलाये जाते हैं ? आपने खाने-खेलने, तराजू आदि साफ करने से तो अरुचि दिखाई; पर दीपक जलाने के सन्दर्भ में कुछ नहीं कहा।

उत्तर : अरे, भाई ! सूरज के डूब जाने पर दीपक तो जलाये ही जाते हैं; इसमें क्या आश्चर्य है। भगवान महावीररूपी सूरज डूब गया था तो प्रकाश की कुछ न कुछ व्यवस्था तो करनी ही थी।

अमावस्या के दिन घने अंधकार को दूर करने के लिए दीपक ही तो जलाये जाते हैं।

दीपक जलाने का यही अर्थ है कि जिसप्रकार सूरज के डूब जाने पर अंधकार से लड़ने के लिए दीपक मार्गदर्शक बनते हैं; उसीप्रकार भगवान महावीररूपी सूरज के डूब जाने पर हमें ज्ञानी धर्मात्मारूपी दीपकों का ही तो सहारा होता है।

यह भी कहा जा सकता है कि गौतमस्वामी को केवलज्ञान होने की खुशी में ये ज्ञानदीप जलाये गये थे। यह तो आप जानते ही हैं कि दीपक ज्ञान का प्रतीक है।

४. प्रश्न : और लड्डू क्यों चढ़ाये जाते हैं ? उनके बारे में भी तो आपने कुछ नहीं कहा।

उत्तर : लड्डू तो चढ़ाये ही जाते हैं, पर शास्त्रों में इसके सन्दर्भ में कुछ देखने को नहीं मिलता। अरे, भाई ! लड्डू तो खाने की चीज है, चढ़ाने की नहीं।

बात यह हो सकती है कि दीपावली के दिन उस समय घरों में लड्डू बन रहे होंगे, तभी समाचार मिला कि भगवान महावीर का निर्वाण हो गया है तो सभी लोग हड़बड़ाहट में लड्डू हाथ में लिए हुए ही भागे कि देखे तो सचमुच क्या हुआ है ?

जब देखा कि भगवान महावीर तो हम सबको यों ही छोड़कर चले गये हैं तो हाथ ढीले पड़ गये और लड्डू वही गिर गये। हो सकता है इसी आधार पर लड्डू चढ़ाने की प्रथा चल पड़ी हो; क्योंकि भगवान की पूजा तो अष्टद्रव्यों से की जाती है; अकेले लड्डू चढ़ाने की बात कहाँ से आई ?

जो भी हो; पर लड्डू गोल होता है, मीठा होता है, सबको प्रिय भी होता है। गोल का अर्थ है आदि-अन्त से रहित; क्योंकि गोल पर हाथ फेरो तो उसका न तो कहीं आरंभ होता है और न कहीं अन्त आता है; इसप्रकार वह अनादि-अनंत है, अखण्ड है। अपना भगवान आत्मा भी अनादि-अनन्त है, अखण्ड है और अनन्त आनन्दमय होने से लड्डू की भाँति मधुर भी है और लड्डू की भाँति ही आराधकों को अत्यन्त प्रिय भी है।

अतः लड्डू चढ़ाने का यही अर्थ हो सकता है कि हे भगवन् ! आप तो मोक्ष पधार गये; अब हम भी इस गोल, मधुर और सर्वप्रिय लड्डू को आपको समर्पित कर अर्थात् पंचेन्द्रिय विषयों को छोड़कर ज्ञान के घनपिण्ड, आनन्द के कन्द, अनादि-अनन्त भगवान आत्मा की शरण में जाते हैं।

५. प्रश्न : लक्ष्मीपूजा के बारे में आपको कुछ कहना है ?

उत्तर : नहीं, कुछ नहीं कहना। कहें तो यह कह सकते हैं कि जब गौतमस्वामी को केवलज्ञान हुआ तो इन्द्रों ने आकर केवलज्ञान कल्याणक मनाया और केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी की पूजा की; पर हम केवलज्ञान और केवलज्ञानी को तो भूल गये और रुपये-पैसेरूप लक्ष्मी की पूजा करने लगे। वणिक समाज इससे अधिक और कर भी क्या सकता था ?

अरे, भाई ! अज्ञान की महिमा भी अनंत है; इसके साम्राज्य में जो कुछ भी न हो जावे, कम ही है।

६. प्रश्न : अन्त में आपको कुछ कहना है, पाठकों के लिए कोई सन्देश देना है क्या ?

उत्तर : अरे, भाई ! क्या कहना और सन्देश देनेवाले भी हम कौन होते हैं; फिर भी तुम सुनना चाहते हो तो सुनो -

भगवान महावीर तो २५३२ वर्ष पहले ही हमें छोड़कर चले गये।

गये सो गये, लौटकर आये ही नहीं और न कभी आयेंगे ही; अतः उन्हें बुलाने से तो कुछ होगा नहीं। अतः यह रट लगाने से क्या लाभ है कि -

एकबार तो आना पड़ेगा और सोती हुई दुनियाँ को जगाना पड़ेगा

भले ही वे चले गये हों, पर आज भी उनकी दिव्यवाणी शास्त्रों के रूप में विद्यमान है। उसके और उसके विशेषज्ञ ज्ञानी धर्मात्माओं के माध्यम से अपने आत्मा को जानो, आत्मा को ही अपना मानो और उस आत्मा में ही जम जाओ, रम जाओ; तुम भी उनके समान भगवान बन जाओगे।

यदि शक्ति हो, साहस हो तो उनकी वाणी को जन-जन तक पहुँचाने का काम भी अवश्य करो। तात्पर्य यह है कि यदि शास्त्रों को पढ़ा सकते हो तो पढ़ाओ, प्रवचन कर सकते हो तो प्रवचन करो; यदि आप से यह संभव न हो तो जिनवाणी को छपाओ, छपाने में आर्थिक सहयोग करो; यदि यह भी संभव न हो तो उसे तन-मन से जन-जन तक पहुँचाने में ही सहयोग करो। तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा।

दीपावली महोत्सव मनाने का इससे अच्छा और कोई स्वरूप नहीं हो सकता।

इसप्रकार मैंने यह रक्षाबंधन और दीपावली के सन्दर्भ में समाज में प्रचलित परम्पराओं के सम्बन्ध में नया चिन्तन प्रस्तुत किया है।

आशा है पाठकगण ! प्रस्तुत विषय पर गंभीरता से विचार करेंगे तथा अपने जीवन में यथासंभव सुधार कर ही सकते हैं।

यदि साहस की कमी से कुछ भी करना संभव न हो तो कम से कम सही बात समझकर अपनी समझ में सुधार तो करेंगे ही।

जो लोग मेरे चिन्तन से सहमत न हो और जिन्हें इस प्रतिपादन से पीड़ा पहुँची हो; उनसे मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

विश्वास कीजिए उन्हें पीड़ा पहुँचाने के लिए यह उपक्रम नहीं है; अपितु सत्य वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करना ही इसका उद्देश्य रहा है। ●